लोक कल्याण ही श्रेष्ठ यज्ञ

नारदजी ने व्यासजी से कहा था कि ''भगवन् महाभारत में आपने भक्ति की कमी रक्खी, इसलिए आपको शांति नहीं मिल रही है। अब आप कोई ऐसा ग्रंथ निर्माण कीजिए, जिससे मनुष्यों में भक्ति का प्रसार हो। इसके फलस्वरूप आपको शांति मिलेगी। इसी पर व्यास भगवान ने श्रीमद्भागवत का सृजन किया।

पर भगवद्गीता भी तो महाभारत का ही अंग है और गीता भक्तिमार्ग से शून्य नहीं है। इसलिए यह कहना कि महाभारत में भक्ति को स्थान नहीं है, सर्वथा सही नहीं कहा जा सकता।

भागवत धर्म के अंतर्गत कर्मयोग और भक्ति दोनों का ही समावेश है, जो भगवद्गीता का विशेष रहा है।

पर गीता की भक्ति श्रीमद्भागवत की भक्ति से भिन्न है। गीता की भक्ति में भावावेश नहीं है। गीता की भक्ति तर्क और बुद्धि के आधार पर अवस्थित है।

वैसे तो गीता के हर अध्याय में कर्मयोग के साथ-साथ श्रीकृष्ण भगवान भक्ति पर भार देते ही रहे हैं। पर बारहवें अध्याय का नामकरण ही भक्तियोग किया है। इसलिए इस अध्याय में नामकरण ही भक्तियोग किया है। इसलिए इस अध्याय में भक्ति की विशेष चर्चा है।

भक्ति के संबंध में अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रारंभ में ही भगवान ने अर्जुन को बता दिया कि जो अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, अचिंत्य, कूटथल, अचल और ध्रुव सत्ता को पूजा करते हैं, जो सर्वत्र सम बुद्धि रखते हैं, इंद्रियों का निग्रह करते हैं, वे सर्वभूतों के हित की कामना करनेवाले मुझ ईश्वर को ही प्राप्त होते हैं। पर साथ ही अर्जुन को यह भी बता दिया कि देह-धारियों के लिए अव्यक्त ईश्वर की यह उपासना कठिन है, यह कहकर श्रीकृष्ण ने सगुण उपासना को अपेक्षाकृत अधिक सुलभ बताकर इसी पर भार दे दिया और साथ ही इस मार्ग की विस्तारपूर्वक चर्चा भी की।

उन्होंने कहा– ''जो सारे कर्म मुझमें अर्पण करते हैं, मेरा ही ध्यान करते हैं, मेरी ही अनन्य भाव से उपासना करते हैं, उनका मैं संसार-सागर से शीघ्र उद्धार कर देता हूँ। इसलिए हे अर्जुन तू अपना मन मुझ पर ही लगा। अपनी बुद्धि का निवास भी मेरे ही भीतर कर। ऐसा करने से तेरा निवास भी मेरे भीतर ही स्थित हो जायेगा। जो प्राणी मात्र से मैत्री करता है, दयावान, जिसमें 'मैं और मेरा' ऐसी वासना विलीन हो गयी है, सुख और दु:ख से जो अतीत है, क्षमावान है, सदा सन्तुष्ट है, जो यत्नवान है, दृढ़-निश्चयवाला है, मन और बुद्धि को मुझमें संपूर्णतया अर्पण करता है, वह मेरा भक्त है और वह मुझे अत्यन्त प्रिय है। जिससे न लोग क्षुब्ध होते हैं, न वह लोगों से क्षुब्ध होता है, हर्ष और क्रोध से जो अतीत है, न भयभीत है, जिसने इच्छा का त्याग कर दिया है, शुद्ध है, चतुर है, कामना रहित है, व्यथा से रहित है, जिसने संकल्पों का त्याग कर दिया है, जो न तो किसी वस्तु से प्रेम करता है और न द्वेष करता है, न चिंता करता है, और न इच्छा करता है, शुभ-अशुभ में जो समान है, मित्र और शत्रु से समान भाव से जो व्यवहार करता है, मान और अपमान में भी जो समान है, ठंडी-गर्मी, सुख-दु:ख से विचलित नहीं होता, किसी वस्तु में आसक्ति नहीं है, निंदा-स्तुति में समान है, अधिक नहीं बोलता, जो भी मिल जाये उसी से संतुष्ट है, बुद्धि जिसकी स्थिर है, वह मेरा भक्त है और वही मुझे प्रिय है। इस तरह विस्तारपूर्वक भक्त के छत्तीस लक्षण गीताचार्य ने बतलाये हैं। रास-क्रीड़ा की या तो नाम-स्मरण की कोई महिमा नहीं गायी।

कर्मयोगी के लक्षणों की ऊपर चर्चा हो चुकी है। भक्त के लक्षणों की भी चर्चा हो चुकी। कर्मयोगी और स्थितप्रज्ञ और गुणातीत के लक्षण भी इन्हीं से मिलते-जुलते हैं। इन दो में भेद क्या? भक्ति को गीताचार्य ने एक ऐसे ऊँचे स्तर पर रख दिया है कि उसका रास-क्रिया से मेल नहीं खाता। वास्तविक स्थिति तो यह है कि न तो कर्मयोगी के लिए ही और न भक्तियोग के योगी के लिए ही संसार सागर से पार करना कोई सस्ता सौदा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। दोनों को ही इंद्रिय-संयम करके इच्छा, द्वेष इत्यादि का त्याग करके अपने- आपको ईश्वर को समर्पण करना पड़ता है।

घृत, तिल और जो की सामग्रियों के एक बड़े संग्रह को नाना भाँति के वेद-मंत्रों के जटाधन और स्वरसहित पाठ के साथ यदि कोई अग्नि में होम कर यह समझता है कि मैंने एक बड़ा भारी यज्ञ करके आपके लिए स्वर्ग का द्वार खोल दिया है, तो वह धोखा खाता है। इन सामग्रियों को जला देना न तो यज्ञ है, न कर्मयोग ही है। वास्तव में मनुष्य जीवन ही यज्ञ है। यही एक प्रज्वलित अग्नि है। अच्छे कर्मों को लोक-कल्याण के लिए करना यही अग्नि में होम करना है।

कर्मयोग की विवेचना तो ऊपर हो चुकी है, कर्मयोगी के लक्षण भी बताये जा चुके हैं। उक्त नियमावलि के बंधनों सहित और उच्च हेतु को सामने देखकर जो कर्म किया जाता है वही कर्मयोग है और उसे करने वाला कर्मयोगी है। इस प्रकार के कर्म करनेवाला ईश्वर की ही पूजा करता है, क्योंकि ऐसे कर्म यज्ञ है। यह भगवान है। इसलिए कर्म भी ईश्वर है। और ऐसे कर्मयोगी अपने कर्मों से ईश्वर की ही पूजा करते हैं।

इस तरह भक्ति-मार्ग का पथिक जो यह समझता है कि अंत समय मे अजामिल की तरह नारायण नाम के उच्चारण मात्र से या तो नित्य राम-नाम की एक हजार माला फेर देने मात्र से अंत समय में बैकुंठ से विष्णु के पार्षद आकर यमदूतों को भगाकर नामोच्चारक मृतक को विमान में बैठाकर सीधे बैकुठ ले जायेंगे, वह भी धोखा ही खाता है। ''नर से साथ सूआ हर बोलै, राम प्रताप न जाणै''। बैकुण्ठ का मार्ग इतना सहल नहीं है। 'सूली ऊपर सेज पिया की' इस सूली पर सोना यही एक भक्ति है। पर ''यदग्रे विषयमिव परिणामे अमृतोपमम्'' जो प्रारंभ में विष, पर अंत में अमृत है वह ही मुमुक्षु का मार्ग है। कर्मयोगी और भक्त दोनों का एक ही मार्ग है। मंसूर को जब सूली पर चढ़ाया जा रहा था। तब सूली के तख्ते पर से पुकारकर उसने कहा, ''इश्कबाजो, यह स्वर्ग की सीढ़ी है। जिसको स्वर्ग चलना हो वह मेरे साथ आ जाये,'' भगवान का मार्ग यह भोगमार्ग कदापि नहीं है। चाहे वह कर्मयोग का पथिक हो, चाहे भक्ति मार्ग का। इस दैवी रास्ते में विकट घाटियाँ हैं, ''भ्रांति की पहाड़ी नदियाँ विच अहंकार की लाट बड़ा विकट यमघाट''। इन दोनों मार्गों के पथिक को भोगों का त्याग करना पड़ता है, पर अंत में तो यही मार्ग ''अमृतोपमम्' है।

''यं लब्धता चापरं लाभं मन्यते नधिकंतत:' इस लाभ से बढ़कर दूसरा कोई लाभ नहीं है। ''यस्मिन् स्थितोन दु:खेन गुरुरणापिं वचाल्यते'' इसमें स्थित होने के बाद बड़े से बड़ा दु:ख भी मनुष्य को विचलित नहीं करता।

ऐसे लक्ष्य पर जिसे पहुँचना है, उसके लिए कर्मयोग और भक्ति दोनों ही उपरोक्त नियमों-सहित सस्ते सौदे हैं।

बारहवें अध्याय में भक्त और उसके लक्षणों का वर्णन है। पर गीता का यह अध्याय वास्तव में अपवाद नहीं है। गीता के हर अध्याय में कर्मयोग और भक्ति दोनों की ही बार-बार स्तुति की गयी है और इनका अनुमोदन आता रहता है। ''राग, भय और क्रोध से रहित होकर मुझमें मन लगाकर जो मेरा आश्रय लेकर ज्ञान से पवित्र हो गये हैं, ऐसे लोग मुझे ही पाते हैं।'' फिर कहते हैं, ''जो मुझे सब यज्ञ और तपों का भोक्ता और सब लोकों का स्वामी और सुहृद समझता है उसे शांति मिलती है।'' ''जो मुझे सब भूतों मे स्थिर समझकर मेरी ही पूजा करता है वह किसी भी हालत में हो, उसका निवास-स्थान मैं ही बन जाता हूँ।'' इसलिए हर समय मेरा स्मरण कर और कर्म कर।'' ध्यान रहे, 'स्मरण कर' और 'कर्म कर'।

''जो अनन्य भाव से मेरी उपासना करते हैं ऐसे योगियों के योग क्षेम की देखभाल मैं ही करता हूँ।'' ''जो बराबर मेरा कीर्तन करते रहते हैं, मेरे सामने नमन करते हैं, वे मेरी ही पूजा करते है।'' ''जो करता है, जो खाता है, जो देता है, जो तप करता है, वे सब मुझे ही अर्पण कर।''

दसवें अध्याय में भक्ति को दृढ करने के लिए भगवान अपनी विभूतियों का वर्णन करते हैं। ग्यारहवें में विश्वरूप का दर्शन कराते हैं, आगे चलकर फिर कहते हैं– ''एकाग्र होकर भक्ति द्वारा जो मेरी सेवा करता है वह तीनों गुणों का पार करके स्वयं ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है।''

इस तरह सारी गीता में कर्मयोग और भक्ति दोनों का निंरतर आदेश और अनुमोदन जारी रहता है। कुछ श्लोक कर्मयोग की स्तुति के आते हैं, तो उसके पश्चात् शीघ्र ही भक्ति की प्रशंसा भी आ जाती है। इस तरह कर्म और भक्ति दोनों का सारी गीता में संमिश्रण है।

बीच-बीच में अर्जुन अपने समाधान के लिए शंका उठाता रहता है और श्रीकृष्ण उत्तर देते चले जाते हैं।

अर्जुन का विषाद तो समाप्त हो गया, पर बीच-बीच में अपने मन को संपूर्ण संतोष देने के लिए वह प्रश्न भी करता रहता है। जब काफी समाधान हो चुका, तब अंतिम समाधान के लिए प्रश्न करता है– ''हे कृष्ण, मुझे संन्यास का पूरा तत्व समझाइए और त्याग का तत्व भी पूरा बताइए।'' जब कृष्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर में कहते हैं, ''अर्जुन, जो कर्म कामना और स्वार्थ के लिए किये जाते हैं, उनका त्याग ही संन्यास है और कर्म के फलों में अनासक्त रहना इसी का नाम त्याग है।'' कुछ आचार्यों ने कहा है कि सभी कर्मों को पाप समझकर उनका त्याग कर देना चाहिये। पर दूसरे आचार्यों ने यह छोड़ने की चीजें नहीं है। इस पर मेरा निश्चित मत जो है, वह भी सुन। वह यह है कि यज्ञ, दान, तप कभी त्यागना नहीं क्योंकि यह मनुष्य को पावन करनेवाला है।

''देहधारी के लिए कर्म का सर्वथा त्याग असंभव है, इसलिए जिन्होंने कर्म-फल की आस छोड़ दी है उन्हें ही त्यागी कहना चाहिये। जिसने अहंभाव त्याग दिया है, जिसकी बुद्धि कर्मों में आसक्त नहीं है, वह यदि किसी का हनन भी करता है, तो वह मारने का दोषों से मुक्त है। जो मनुष्य अपना नित्य कर्म नहीं छोड़ता, वह अपने कर्तव्य कर्म द्वारा ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

''जिस ईश्वर से भूत प्राणी उत्पन्न हुए हैं, और जिससे यह सारा संसार व्याप्त है, उसकी अपने कर्म द्वारा उपासना करने से ही सिद्धि मिलती है। कर्तव्य कर्म यदि दोष युक्त भी लगे तो उसे त्यागना नहीं चाहिये, क्योंकि जैसे धूम्र में अग्नि छिपी रहती है, उसी तरह शुभ कर्म भी कभी-कभी दोषों से आच्छादित दीखते हैं। पर अनासक्त होकर, मन को जीतकर, कामना छोड़कर कर्म दोष से आच्छादित लगते हो, तो भी कर्तव्य कर्म के पालन से विमुख नहीं होना चाहिये, क्योंकि कर्म करने से ही सिद्धि मिलती है। जो ब्रह्म में लीन है वह न तो इच्छा करता है न चिंता करता है, सब प्राणियों को सम दृष्टि से देखता है, वह असल में मेरी ही भक्ति करता है। जो तमाम कर्म करता हुआ भी मेरे आश्रय में रहता है उसे ही शाश्वत शांति मिलती है।''

भगवान और अुर्जन में काफी प्रश्नोत्तर हो चुके थे। अर्जुन का समाधान भी हो रहा था, तो भी बीच-बीच में अर्जुन प्रश्न करता ही जाता था। अर्जुन नर का अवतार था। भगवान नारायण के अवतार थे। अब इस प्रश्नोत्तरी का अंत करने के लिए नारायण के अवतार श्रीकृष्ण ने नर के अवतार अर्जुन को कहा, ''अर्जुन, सुन मेरा ध्यान कर, इसी से तेरी कठिनाइयाँ निर्मूल हो जायेंगी, पर यदि अहंकार के वश में आकर मेरा परामर्श तूं नहीं सुनेगा तो तेरा नाश हो जायेगा। यदि तूं अहंकार के वश में आकर यह समझता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, अर्थात् अपना कर्तव्य कर्म नहीं करूँगा तो तेरा यह निर्णय मिथ्या है, क्योंकि तेरी प्रकृति ही तुझे खींचकर कर्मों की ओर ले जायेगी।

''मनुष्य अपने स्वभाव में बँधा हुआ विचरता है। इस लिए तू न भी चाहेगा, तो भी कर्म तो करना ही होगा। ईश्वर सबके हृदय में बैठा तमाम भूत प्राणियों को चलाता रहता है, इसलिए अहंकार को छोड़कर भगवान की शरण में जाकर अनासक्त होकर अपना कर्तव्य कर्म करता जा। मन मुझमें लगा, मेरी ही भक्ति कर मुझे ही नमन कर। फिर तेरा मुझमें ही समावेश हो जायेगा। इसको मेरी प्रतिज्ञा समझ। इस तर्क-वितर्क को समाप्त करके अब तू मेरी शरण में आ जा। मैं तेरी रक्षा करूँगा। चिंता छोड़।' श्रीकृष्ण के इतना कहने के बाद अर्जुन संदेह-रहित हो गया। उसकी जबान को ताला लग गया। हृदय की अज्ञान की गांठ टूट गयी। ज्ञान का प्रकाश हो गया। तब कृष्ण ने पूछा, ''क्यों अर्जुन, अब तेरा, संदेह गया या नहीं?'' अर्जुन ने कहा, ''हे अच्युत, मेरा संदेह मिट गया। अब मैं तुमने जैसा बताया, वैसे ही अपने कर्तव्य कर्म में लगूँगा।''

कर्मयोगी के अथवा भक्त के लक्षणों के उपरोक्त विवरणों से पता चलेगा कि इन दोनों के सब लक्षण एक ही समान हैं। समुद्र का पानी चाहे बंगाल की खाड़ी में से उठाओ या हिन्द महासागर से अथवा तो पश्चिम के समुद्र से उठाओ, सभी एक ही समान लवण-जल है। उसी तरह गीता में पुनरुक्तियाँ भरी पड़ी हैं और जान बूझकर व्यासजी ने रखी हैं। पर वे सारे के सारे उपदेश एक ही समान हैं।

गीता का स्वाध्याय हितकर है, पर संक्षेप में यदि दूसरे अध्याय के स्थित प्रज्ञ के लक्षणों का हम मनन करें या बारहवें अध्याय के भक्तों के लक्षणों को पढ़ें अथवा तो चौदहवें अध्याय के गुणातीतों का आचरण या सोलहवें अध्याय में दैवी संपदावाले का लक्षण पढ़ें तो, वह सब के सब एक ही समान प्रेरक होंगे।

श्रीकृष्ण गीता के द्वारा न केवल अर्जुन को पर सारे मनुष्य समाज को उपदेश देते हैं। पर वे उपदेशामृत को घोलकर बलात किसी को पिला नहीं सकते। मुमुक्षु को सीढ़ी पर चढ़ने के लिए स्वयं ही परिश्रम करना पड़ता है। यदि वह स्वयं साधना की अवहेलना करे तो गीता या अन्य किसी भी शास्त्र का स्वाध्याय बेकार है।

इन सब कड़े प्रतिबन्धों से जो कर्मयोगी और भक्त के लिए एक समान है, साधक को निराश नहीं होना चाहिये। भगवान भीतर बैठा है, पुकारने मात्र की आवश्यकता है। आत्मज्ञान दुर्लभ नहीं है। पर मुमुक्षत्व चाहिये। आलसियों के लिए ईश्वर का मार्ग दुर्लभ है। भक्त साधकों के लिए यह अत्यंत सरल है।

''राम कहै सुग्रीव सों लंका कितीक दूर,
आसलियाँ अलगी धणी, उद्यम हाथ हजूर''

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संक्षेप में गीता का सार यह है। अपने कर्तव्य कर्म को कभी न छोड़। लगन से अपने स्वधर्म का आचरण करता जा। शुभ हेतु से सब प्राणियों की सेवा के लिए ही कर्मकर। फल के पीछे मत छोड़। इंद्रियों के भोगों से विरक्त हो। मन और बुद्धि पर निग्रह रख। भगवान में भरोसा रख। जो कर्म करे, वह उसी को अर्पण कर अहर्निश उस प्रभु का स्मरण कर। ईश्वर में और तुममें कोई भेद नहीं है, क्योंकि तुम्हारे में और अन्य भूतों में सब वही एक सत्ता व्यापक होकर स्थित है। इसी तरह तुम भी सभी में स्थित हो। इसलिए जो ब्रह्म है वह ही तुम हो। तुम भी ब्रह्म हो। द्वंद्वों से मुक्त रहो, सुख-दुःख व मान-अपमान को समान समझो। चिंता छोड़ दो। उसका ध्यान अर्थात् सब प्राणियों में जो वह स्थित है उसी ईश्वर का ध्यान करो। इसका तात्पर्य यह है कि सब प्राणियों का ध्यान अर्थात् उनके हित के लिए ही कर्म करो।

''आदम खुदा नहीं, पर आदम खुदा से जुदा नहीं''– यह विश्व यही विराट् स्वरूप है। यही विश्व दर्शन है, ईश्वर-दर्शन भी यह ही है। तू भी वही है– ''तत्वमसि।'' जनक इत्यादि राज करते हुए, कर्म करते हुए भी अनासक्त रहे। धर्म, व्याध और तुलाधार भी कर्मों में अनासक्त थे। उन्हीं का अनुकरण करो। भगवान अपनी रचित सृष्टि और संसार के झंझटों में रमते हुए भी कमल जैसे जल में अलिप्त रहता है वैसे ही अलिप्त रहते हैं। तुम भी वैसा ही आचरण करो।

इतना कहने के पश्चात् भी अंत में जो तुम्हारी इच्छा हो सो करो।

इस पर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा, ''मैं स्वस्थ हूँ। अब आप जो कहोगे वही करूँगा।'' यह गीता का सार है।

हरेक अध्याय में विचरण करते हुए हम यह देखेंगे कि जो उपरोक्त सार बताया है उसी की सारी गीता में पुनरावृत्ति है। समुद्र का सारा जल, उसकी तरंगे, उसकी बूँदे एक ही प्रभु की सत्ता का चित्र है। एक ही शक्ति विश्व में व्याप्त है। द्वैत को कोई स्थान नहीं।

'अहं ब्रह्मास्मि' या 'तत्त्वमसि' का भी अर्थ यही है।

व्यासजी की कृपा से संजय को महाभारत युद्ध देखने के लिए दिव्य-दृष्टि और सुनने के लिए दिव्य श्रवण शक्ति मिल भी गयी थी। इसलिए वह दूर बैठा-बैठा भी युद्ध की सारी क्रियाएँ देखता रहता था, और वहाँ जो कुछ होता था उसे सुनता भी रहता था। यह सब देख और सुनकर सारा विवरण धृतराष्ट्र को सुनाता रहता था। उसने जब कृष्ण अर्जुन के इस अद्भुत वार्तालाप को अपनी दिव्य श्रवण शक्ति से सुना, तो वह विह्वल हो उठा और धृतराष्ट्र से कहने लगा, ''राजन, इस अद्भुत पुण्य संवाद को सुनकर मैं गद्‌गद् हो रहा हूँ और उसे याद करके और भगवान के अद्भुत स्वरूप को स्मरण करके मुझे महान विस्मय हो रहा है, और बार-बार हर्ष हो रहा है, हे राजन् मेरा निश्चय सुनो– जहँ कर्मयोगी योगेश्वर कृष्ण के रूप में कोई भी कर्मयोगी है, जहाँ अर्जुन के रूप में लगन वाला परिश्रमी कोई भी उद्योगी साधक है वहाँ निश्चय ही श्री है, विभूति है, विजय है और आनंद है। यह मेरा निश्चित मत जान लो।''

'कृष्ण बंदे जगत कुरुम्'
घनश्यामदास बिड़ला से साभार

■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org